# निगम-आगम का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध : प्रास्ताविक सम्बोधन

**प्रो० विद्यानिवास मिश्र**

कभी कभी व्यर्थ मतिभ्रम पैदा किया जाता है, कि वेद की परम्परा और आगम की परम्परा परस्पर विरोधी परम्पराएं हैं। जबकि आज कोई भी कर्मकाण्ड हो, वैदिक हो, तान्त्रिक हो, तथाकथित तान्त्रिक हो, तथा कथित वैदिक हो, स्मार्त हो, संध्यावन्दन हो, कोई भी पूजा हो, उसमें जितना अंश वैदिक मन्त्रों का है उतना ही अंश कुछ कम-वेशी तंत्र के मंत्रों का है, विधियों का है। यहां तक कि शुद्ध श्रौत यज्ञ भी जो सम्पन्न होते हैं उनमें भी जो लोक में चली आ रही विधि है, उस विधि का अनुवर्तन होता है, कलश स्थापन आदि होता है। यह कैसे हुआ है घटित?यदि उनमें विरोध होता तो उसी प्रकार का है जैसे कि हम न्यायवैशेषिक में और सांख्य योग में अन्तर देखते हैं।

कोई प्रस्थान वेद देखता है, पर उन्हें हम सोपान के रूप में ग्रहण करते हैं। किसी एक सोपान पर न्याय वैशेषिक का सिद्धान्त भी ठीक है। वस्तुत: व्यवहार के स्तर पर लोकायत का सिद्धान्त भी ठीक है। उसी के अनुसार अदालतें चलती हैं। अदालतें प्रत्यक्ष ही प्रमाण पर चलती हैं, दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखतीं, वहां पर अदृश्य प्रमाण अगर कहें तो अदालत चलेगी ही नहीं। इसलिए सबके अलग अलग सोपान हैं और सब मिल करके एक होता है।

यदि निगम और आगम शब्द पर ही हम विचार करें तो अन्तर थोड़ा सा स्पष्ट होता है। दोनों ही ले जाने वाले हैं, दोनों ही जीवन की गति को आगे बढ़ाने वाले हैं। अन्तर यह है कि एक में सिद्धान्त पूर्व प्रतिपादित, स्थापित सिद्धान्त है, दूसरे में प्रयोग के द्वारा उसका सत्यापन है। आगम प्रयोगप्रधान है, निगम शब्दप्रधान है। इसीलिए उसे प्रभुशास्त्र कहा जाता है, प्रभु सम्मत वचन कहा जाता है। उसमें स्थापनाएं कर ली गयी हैं। स्थापनाएं ऋषियों की अन्तर्दृष्टि से मिली हैं, जो स्थापनाएं ही अपने आप में देवता हैं। वे मन्त्र ही देवात्मक है। इतना मनन हुआ है, तब उन मंत्रों के स्फुरण मात्र से देवता की उपस्थिति ज्ञापित हो जाती है। वहां मन्त्रों के अनुक्रम में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। स्वर में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

आगम परम्परा में अपने आप ही विकास होता रहा है। शिव से पार्वती को मिला, फिर यथाक्रम गुरु से शिष्य को मिलता रहा है। जो इस क्रम से आता है, उसमें कुछ न कुछ जुड़ता है, कुछ संवाद जुड़ते हैं, कुछ फलश्रुतियां जुड़ती हैं, कुछ अर्थवाद जुड़ते हैं। और जुड़ता चला गया। प्रयोग से उसमें कुछ और जुड़ा। दूसरे प्रयोग हुए, दूसरी साधनाएं हुई तो कुछ और जुड़ा। इस प्रकार उसका विस्तार होता चला जाता है और आगमों की संख्या वेदों की अपेक्षा कहीं अधिक विपुल है और यह स्वाभाविक है । पर वस्तुत: जो मूल सिद्धान्त है, दोनों के एक ही हैं। दोनों का मूल सिद्धान्त यही है कि जो आभ्यन्तर है, वही बाह्य है। बाह्य और आभ्यन्तर दो नहीं है। परस्पर दोनों में एक विम्बानुविम्ब सम्बन्ध है। दूसरे प्रकार के सम्बन्ध भी कह सकते हैं, अवयव-अवयवी सम्बन्ध भी कह सकते हैं कि जो भी सम्बन्ध हैं, वह ऐक्य बोधक ही हैं। मिलकर के ऐक्य की ही प्रतीति कराते हैं। तो पहली बात तो यह कि "यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे, यद्ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे।" जो उस छोटे से पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। जो ब्रह्माण्ड में हो रहा है वही लघु स्तर पर इस पिण्ड में हो रहा है।

दूसरा सिद्धान्त जो दोनों का आधारभूत सिद्धान्त है, वह यह है "एकं सत्", (ऋ. 1.164.46 cf. श्री तन्त्रालोक 3.119) सत्ता एक है। उसकी प्रतीतियां अनेक हैं, सत्ता के रूप में एक है। और जो यह एक है, यह एक सर्वात्मक है। जब एक की प्रतीति होती है तो खण्डश: प्रतीति नहीं होती, समस्त को लेकर प्रतीति होती है। जब हम सर्व कहते हैं तो उसका अर्थ जोड़ नहीं होता है। एक, दो, तीन, चार को जोड़ लीजिए तो समस्त हो जाएगा, ऐसा नहीं है। वह जोड़ उसके व्यतिरिक्त समस्त का भाव—यह समवेत हो करके सर्व होता है। इतने पदार्थ अदृश्य हैं, इतने पदार्थ इन्द्रियगोचर हैं, जो नहीं हैं, उन सबका जोड़ और उसके अतिरिक्त इन सबके एक होने का जो भाव होता है, वह सर्व होता है।

यह सर्व का ध्यान जितना वैदिक कर्मकाण्ड में है, वेद के ब्राह्मण में है। जो व्याख्या है वह भी प्रयोगात्मक है। उपनिषद्में है। सृष्टि के स्वरूप के चिन्तन में है। सृष्टि स्थिति संहार का जो कम है वह यहां भी है। दोनों जगह संहार का अर्थ विनाश नहीं है। संहार का अर्थ समेटना है। जब अनेक रूप में चीजें बिखर जाती हैं तो उनको समेट करके फिर से एकता की स्थापना होती है और उससे फिर आगे सृष्टि का विकसित रूप होता जाता है। यह क्रम बना रहता है। यह क्रम आवर्तक क्रम है या कोई भिन्न क्रम है, कम से कम सीधी रेखा में यह गति नहीं है। और बिल्कुल बन्द चक्र के रूप में भी गति नहीं है, क्लोज सर्किल भी नहीं है यह। उसका मुँह खुला हुआ है। अधिकतर इसकी उपमा शंखवलय से दी जाती है कि चक्कर शुरू होते हैं तो उसका मुँह बन्द नहीं होता, दूसरा चक्कर शुरू हो जाता है। लगता है उससे समानान्तर है, लेकिन कुछ न कुछ उससे अलग चला जाता है। ऐसे ही ब्रह्माण्ड की भी गति है। इसीलिए जिस रूप में काल की अवधारणा हमारी है, वहां पर काल क्रिया है, गति है और साथ ही साथ इन गतियों का ऐसा सन्धि रूप है जिससे सब गतियां निकलती हैं। उसको महाकाल कह सकते हैं, अनन्त कह सकते हैं। कुछ भी नाम दे सकते हैं।

कालसूक्त अथर्ववेद में मिलता है। इसमें सबसे पहले पूर्णकुम्भ शब्द आता है। "पूर्ण:कुम्भोऽधिकाल आहित: (अ0 19.53.3)।" यही अर्थ है उसका कि यह ऐसा घोड़ा है जिसके ऊपर के विपाश्यत केवल जो पीछे नहीं देखने वाले हैं, वे ही सवारी कर सकते हैं। ऐसी अवधारणा दोनों में समान है। इस प्रकार के काल के, इसके सर्वाधिक रूप की, इसके निर्वाधिक रूप की। और तीसरी बात जो बहुत ही स्पष्ट रूप में हमारे कर्मकाण्ड में है कि हमारा जीवन सृष्टि के प्रथम क्षण का अनुवर्तन है। इसलिए हमारे प्रतिदिन के अर्चन में, कृत्य में इन मंत्रों का विशेष रूप से उल्लेख होता है कि ये सृष्टिपरक मंत्र हैं। ये सब सृष्टि से सम्बद्ध हैं। तो सृष्टि के प्रथम क्षण में अपने को उपस्थापित करना और उसी रूप में, उसी उद्देश्य से सृष्टि का प्रवर्तन करना कि सृष्टि अकेले के लिए नहीं होती, तस्मादेकाकी न रमते...स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् (वृ0 3.1.4.3)। अकेले उसका मन नहीं लगता था, दो भागों में उसने बांटा। यह दूसरे की उद्‌भावना करना अपने को समझने के लिए, दूसरे की अवधारणा करना, सर्जना करना यह सृष्टि का उद्देश्य है। यह सब जान लेने पर हम देखते हैं कि तन्त्र में और तन्त्र की दृष्टि में और वेद की दृष्टि में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। चाहे आप संहार के क्रम से शुरू करें, चाहे आप सृष्टि के क्रम से शुरू करें सृष्टि को समझना ही और सृष्टि के साथ साथ अपना स्थान कहां है, इसको समझना ही जीवन है, अनुष्ठान है। न अनुष्ठान जीवन से भिन्न है, न सारे कला व्यापार, यज्ञ कुछ भी नहीं भिन्न है। जिस रूप में यज्ञ की परिभाषा वहां है, उसी रूप में यहां भी है।

यज्ञ केवल आहुति नहीं है। उसका देवता के उद्देश्य से आहुति डालना एक अर्थ है। किन्तु दूसरा अर्थ अधिक महत्वपूर्ण है—संगति स्थापित करना, संगतिकरण। उस धातु का अर्थ है संगति स्थापित करना, और यही

संगति स्थापित करने का प्रयत्न हर एक पूजा में होता है। इतना जगत् है, ब्रह्मलोक आदि जितना जगत है, सब इस यज्ञ से पूर्ण हो। सारे जगत् की तृप्ति के लिए है। तो यह भाव है उसमें। उसमें कौन मानता है, कौन नहीं मानता है। कौन इसके अन्तर्गत है, कौन इसके बाहर है इसकी बात नहीं है। और इसीलिए यहां पर जो द्वैत है वह द्वैत नहीं है, द्वैताभास है।सत् और असत् में, धर्म-अधर्म मे, व्यक्त अव्यक्त में जो भी द्वैत दीखता है वह द्वैत वस्तुतः है नहीं। वह एक होने के उद्देश्य से द्वैत है। इसीलिए ऐसे विरोधी वाक्य आपको उपनिषदों में मिलेंगे।तदेजति तन्नैजति (ईश. 5) वही सत् है, वही असत् है। और यही भाव मिलेगा कि उसमें जितनी विश्वमयता है उतनी ही विश्वोत्तीर्णता है किन्तु यह सब भी ब्रह्म है और इसके परे भी ब्रह्म है। इसका अतिक्रमण करने वाला जो ब्रह्म है तो यह विश्वोत्तीर्णऔर विश्वमय तन्त्र की स्थापना में भी है। यहां पर जिन स्थापनाओं के स्तर पर हम सोचते हैं, वहां निगम में आगम में कोई ऐसा भेद नहीं है।कुछ अन्तर देखते हैं कि इस जीवन की अवहेलना, इस जीवन का तिरस्कार केवल आकस्मिक का अनुसंधान यह कहां मुख्य रूप से है। वहां भी वैदिक स्तुतियां, वैदिक मन्त्र लें तो ऐहिक सुख और आमुष्मिक सुख दोनों सुखों की बात की जाती है और दोनों सुखों के परे भी बात की जाती है। सुखों के आत्यन्त की भी बात की जाती है। ऐसा नहीं है कि वहां पर इस जीवन का, इस इन्द्रियगोचर संस्कार का तिरस्कार हो। तिरस्कार वहां भी नहीं है। एक अलग परम्परा के रूप में कुछ ऐसे लोगों का स्थान है जो बाह्य कर्मकाण्ड को आडम्बर मानते थे। जिनकी चर्चा आती है व्रात्यों के रूप में, ये लोग बाह्य कर्मकाण्ड को महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। पर यह किसलिए नहीं मानते थे, क्या कारण था, किन परिस्थितियों में नहीं मानते थे और क्यों बाद में ऐसी कोई स्थिति नहीं है.... अवधारणा की एक श्रमण परम्परा अलग थी और ब्राह्मण परम्परा अलग थी, उसमें कोई तत्व नहीं दिखाई पड़ता कि श्रमण परम्परा अगर अलग थी तो उसने साधारण जन के लिए कोई सामाजिक व्यवस्था दी अलग? हमें तो कोई प्रमाण नहीं मिलता। बौद्ध धर्म और दर्शन के इतिहास में दीर्घकाल तक विवाह के लिए, जीवन के और व्यवहार के लिए गृह्यसूत्रों के अलावा अलग से कोई विधान हो, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। वे लोग वर्णाश्रम स्वीकार करते हैं। तो सामाजिक विधान तो वहां कुछ है ही नहीं।भेद की बात एक स्तर पर है। संन्यास आश्रम की बात जहां आती है, वहां आप समानता दे सकते हैं, कुछ असमानता भी दे सकते हैं। किन्तु जहां दूसरे आश्रमों की बात है वहां पर जीवन विधान में कोई अन्तर नहीं है। अगर इतना ही अन्तर आप समझते हैं कि यह बुद्धों की, बोधिसत्वों की पूजा करते हैं तो यह गुंजाइश तो यहां भी है कि जितने चाहें उतने देवताओं की पूजा करें। जहां जिसकी श्रद्धा हो वहां उसकी पूजा करे।

अलग परम्पराओं का आविष्कार किया है हमारे प्रभुओं ने। डेढ़ सौ वर्षों में ऐसे बहुत से भेदों का आविष्कार किया जो भेद है नहीं। नस्लों का भेद किया आर्य नस्ल है, आर्य जाति है और द्रविड़ जाति है। जबकि वह भेद न जाने इतिहास के किस धुंधलके में मिट चुके थे। पुरातत्व के रूप में यह बताते हैं कि जो भी पुराने अस्थिपंजर मिलते हैं, कपाल मिलते हैं, उनकी आकृतियों में मिश्रण हो चुका है, इसका प्रमाण है। अगर मिश्रण हो चुका है तो अलग पहचान कहां से होगी? अलग पहचान तो खो चुकी थी। इसलिए इसका कोई महत्व ही नहीं। किन्तु उन्होंने कल्पित कर दिया कि इनमें इतना द्रविड़ तत्व है, उसका दशमलव में हिसाब करके रख दिया है लोगों ने। जहां तक अपने जातीय स्मृति का प्रश्न है, उस स्मृति में कहीं ऐसी स्मृति नहीं है और यह महत्वपूर्ण बात है। हमारे यहां भेद बहुत सारे हैं लेकिन रंग के आधार पर भेद कहीं नहीं है। और रंग के आधार पर उच्छ्वसित भी नहीं है। जन्म के आधार भी उच्चावचन नहीं है और अगर है तो शील के आधार पर है।

शील का निर्णय भी कोई कानून से नहीं है। राज्य नहीं निर्धारण करता है कि इनके पास शील 75% है, इनके पास 40% है, वह शील का निर्धारण व्यक्ति स्वयं करता है। स्वयं जब कसौटी पर कसता है कि यह जो हम कर रहे हैं, सबकी ओर से कर रहे हैं, सबके लिए कर रहे हैं कि नहीं कर रहे हैं। सबके लिए कर रहे हैं या नहीं कर रहे हैं। इसलिए यहां पर जो प्रमाण हैं, वैदिक कर्मकाण्ड का ही प्रमाण है। यज्ञ की जो अन्तिम आहुति होती है, वह सत्कार्य के साथ होती है। वहां पर प्रभु होता है, अहम् का नहीं होता है वयम् का होता है। और आत्मने पद का प्रयोग होता है कि हम अपने लिए कर रहे हैं। वयम् यजामहे... खट करते हैं। यही अन्तिम आहुति है। वयम् यजामहे। अहम् नहीं है, वयम् है। वयम् को करके अन्तिम आहुति दी जाती है। उस आहुति को देने से व्यक्ति का रूपान्तरण हो जाता है स्वर्ग के रूप में। यह अपना, अपनी लघुता का, अपने संकोच शरीर का भस्म होना जो वैदिक दीक्षा है, उसी के समानान्तर है, उसी के अनुकूल है। तन्त्र में शरीर के बारे में धारणा करते हैं कि इसको सुखाया, इसके बाद इसको पूरा भस्म किया, इसके बाद इसको शिवमय शरीर में जिलाया, फिर इसको शिवशक्ति में समाहित किया और तब इसको पूजा कार्य में लगाया। तब इस सर्वात्मिका देवी, शिव के अर्चन कार्य में लगाया। वह उसी परम्परा का एक दूसरा रूप है "देवोभूत्वा, देवमीहित्वा, न देवदेवमीयते"। देवता होकर के ही देवता की आराधना कर सकता है, अपने भीतर देवत्व का स्थापन करके कर सकता है, वैसे नहीं कर सकता। तो इन दृष्टियों से जब हम भेदों की कल्पना करते हैं तो भेद बड़े सतही हैं। और कालान्तर में हो गये हैं भेद, इसमें कोई सन्देह नहीं। बहुत से रूप हुए हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में कई प्रकार के कर्म काण्ड हैं। इनको हमलोग आजकल करते नहीं हैं। उनको हम लोक की दृष्टि से अमान्य करते हैं। बलि को ही अमान्य कर चुके हैं। क्योंकि हमारी मूल संस्थापनाओं के यह अनुकूल नहीं पड़ते। मूल स्थापनाओं में यह भी है कि लोक की स्वीकृति होनी चाहिए। लोक को प्रिय होना चाहिए। सदाचार के रूप में जो प्रतिष्ठित है, उसके अनुकूल होना चाहिए। पर इसलिए अपने को भी लोकप्रिय होना चाहिए। अपने लिए अनुकूल होना चाहिए। अब वह कसौटी ऐसी है कि जिसका जितना ही विस्तार किया जाता है, पकड़ में बात आ जाती है, फिर नियंत्रण लग जाता है। तो हमारी धारा एक ओर सत्य है, शाश्वत है, एक ओर गतिशील है। दोनों कूलों के बीच में चलती है। उसमें परिवर्तन की क्षमता है, परिवर्तन को आत्मसात् करके टिके रहने की क्षमता है। यह दोनों स्थितियां रहती हैं।

बहुत सी चीजें आती हैं, और फिर वह चली जाती हैं, उनकी स्मृति रहती हैं पर उनकी निन्दा नहीं होती। निन्दा करने का उनका प्रयोजन नहीं है। मनुष्य किस स्थिति में कौन सा कर्मकाण्ड करता है, किन देवताओं की आराधना करता है, उसकी स्थिति को देखते हुए उसकी निन्दा हम नहीं करते। और यह भाव संस्कृति का एक विशेष लक्षण है। अगर यह न होता, इसको ग्रहण करने के लिए तैयार न होते, तत्पर न होते, कितने भेदों को ग्रहण किया। इन तन्त्रों के माध्यम से हमने अपना बड़ा विस्तार किया है। पूरे दक्षिणपूर्व एशिया में, जापान में, चीन में, उत्तर एशिया में हमने अपना विस्तार किया जिसमें तन्त्रों का बड़ा ही योग था, दृष्टि का बड़ा योग था। क्योंकि हर परिस्थिति के लिए कुछ न कुछ कर्मकाण्ड का उपदेश इसमें है। उसमें हमसे अलग है, बहुत भेद है, अन्तर है, हमारी लोक रुचि के अनुकूल नहीं है, पर ....अमरता... जो मरती नहीं। जो अव्यय है। एक एक कला क्षीण होती होती भी अव्यक्त रूप में भी जो बची रहती है वह चुकती नहीं है, वही तो उसका अमृतत्व है, वही उसका सही रूप में दीखना है। पूर्ण रूप में आहुति हो जाए और तब भी आदमी बचा रहे, वही उसकी वास्तविक अस्मिता है। वही उसका वास्तविक समर्पण है। उसमें भी यही दृष्टि है। हम उसे देखेंगे और देखेंगे वह जो विधि विधान है, वही उत्तरकाल में मण्डप, अर्धमण्डप और गर्भ

गृह बनता है। उसी क्रम में बनता है, उसी आकार प्रकार में बनता है। तो कोई चीज तिरोहित नहीं होती, रूपान्तरित होती चलती है। यज्ञ संस्था तिरोहित नहीं हुई, यज्ञ संस्था का रूपान्तरण हुआ। अन्त में अनेक असुविधाओं को देखते हुए उसका पूर्ण विलयन हो गया है जप में। भगवान्श्रीकृष्ण ने कहा है "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" (गीता **10.25**)। जप में ही विलयन हो गया है। एक विशेष प्रकार के एकाग्र चिन्तन में, नाम के चिन्तन में, नाम की बारबार आवृत्ति में उसका विलयन हो गया है। तो वह जप यज्ञ कितना वैदिक है, कितना तांत्रिक है इसको अलग करके कोई देखे तब उसकी बुद्धि की सराहना करनी चाहिए।

आज जब भेदपरक बुद्धि का इतना अनियंत्रित फैलाव हो चुका है, उस समय भेद को स्वीकार करते हुए एकता की बात करना साहस का काम है। किन्तु वह साहस किसी न किसी संस्था को करना चाहिए। जो डेढ़ सौ वर्षों में हुआ है, उसकी धारा के प्रतिकूल नया उपक्रम, नया संकल्प लेना चाहिए। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि ज्ञान प्रवाह ने ऐसा संकल्प लिया है और यह गोष्ठी निश्चित ही एक दृष्टि उन्मीलन का काम करेगी।